अध्याय -- १

भक्ति का रूप

(क) प्राचीन साहित्य में भक्ति का निर्देश ।

(ख) धर्म की व्यवस्था में भक्ति ।

(ग) भक्ति के आवश्यक तत्व --

शाण्डिल्य भक्ति सूत्र

नारद भक्ति सूत्र

(घ) मनोभाव एवं आचार

अध्याय -- १

भक्ति का रूप

भक्ति की व्युत्पत्ति

मध्य-युगीन हिन्दी साहित्य में भक्ति की महत्ता सर्वोपरि है । इस भक्ति का इतिहास मनोरंजक है । 'भजसेवायाम्' धातु से 'स्त्रियां क्तिन्' (पा०सू० ३।३।९४) इस सूत्र के अनुसार 'क्तिन' प्रत्यय लगाने पर 'भक्ति' शब्द बनता है । वस्तुत: 'क्तिन' प्रत्यय भाव-अर्थ में होता है । 'भजनं भक्ति:' , 'भज्यते अनया इति भक्ति:' ,'भजन्ति अनया इति भक्ति:'-- इत्यादि 'भक्ति' शब्द की व्युत्पत्तियां की जा सकती हैं ।

इस भाँति 'भजन' की भावना ही भक्ति की आधार-मूला प्रवृत्ति है । भजन की व्युत्पत्ति 'भज्' धातु से है,जिसके अनेक अर्थ हो सकते हैं । जिस संज्ञा के साथ 'भज्' धातु का प्रयोग होता है, उसी संज्ञा के अनुसार 'भज्' की अर्थ संगति हो जाती है । प्रस्तुत सन्दर्भ में 'भजते कैव शरीरिण (रघुवंश ८।४३) के संदर्भ में 'भज्' धातु सेवा,सम्मान,पूजा और आराधना के अर्थ में ही प्रयुक्त होती है । यही कारण है कि 'भज् सेवायाम्' सूत्र में भजन के साथ सेवा की भावना भी जुड़ी हुई है । सेवा सम्पन्न करने के अनेक प्रकार हैं,जिनसे भक्ति के लक्षणों का बोध होता है ।

भक्ति के लक्षण

भक्ति रसायन(१।३) में श्री मधुसूदन सरस्वती ने 'भक्ति' का लक्षण इस प्रकार दिया है --

द्रुतस्य भगवद्धर्माधारावाहिकर्ता गता ।
सर्वेशे मनसोवृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते .।।

तात्पर्य यह कि भगवद्गुण के श्रवण से प्रवाहित होने वाली भगवद्विषयिणी धारावाहिक वृत्ति को ही भक्ति कहते हैं । देवर्षि नारद के अनुसार भक्ति के निम्न लक्षण हैं --

'सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा अमृत स्वरूपा च ।' (नारद भक्ति सूत्र२)

'परमेश्वर के प्रति होने वाले परम प्रेम को ही भक्ति कहते हैं ।'

महर्षि शाण्डिल्य ने भक्ति का लक्षण निम्न प्रकार से दिया है --

'सा परानुरक्तिरीश्वरे' (शाण्डिल्य भक्ति सूत्र १।१।२)

ईश्वर के प्रति परमानुराग को ही भक्ति कहते हैं । अथवा 'आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्य: '(ना०भ०सू०१८) । अर्थात् शाण्डिल्य ऋषि के मतानुसार आत्मरति के अविरोधी विषय में अनुराग होना ही भक्ति है । अर्थात् भगवत् प्राप्ति के पोषक शास्त्रचिंतन महात्माओं की संगति में प्रेम होना ही भक्ति है ।

'पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्य: '(ना०१६)

अर्थात् भगवान् की पूजा आदि में अनुराग होना ही भक्ति है-- ऐसा पाराशर का मत है ।

श्रीमद्भागवत् के तीसरे स्कन्ध में भगवान् श्री कपिलदेव जी अपनी माता देवहूति के प्रति भक्ति का लक्षण कहते हैं --

'मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये [१] ।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गंगाम्भसोऽम्बुधौ ।।
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम् ।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्ति: पुरुषोत्तमे [२] ।।

१- प्रा०पा० - गुणाशये ।

२- श्रीमद्भागवत् ३।२९।११-१२

अर्थात् जैसे गंगा जी की धारा अखण्ड रूप से अहर्निश महासागर की ओर बहती रहती है, उसी प्रकार मेरे गुणों (दिव्य लीलाओं) के श्रवण मात्र से ही मन की गति का तैल धारावत् निर्विच्छिन्न रूप से मुझ सर्वेश्वर जगन्नियन्ता सर्वान्तर्यामी के प्रति हो जाना तथा मुझ पुरुषोत्तम में निष्काम अनन्य प्रीति का उत्पन्न होना ही निर्गुण भक्ति योग का लक्षण है । श्री भीष्मपितामह, प्रहलाद, उद्धव, तथा नारद मुनि ने तो भगवान् में प्रेमपूर्वक प्रगाढ़ अनन्यमयता को ही भक्ति कहा है --

'अनन्य ममता विष्णौर्ममता प्रेमसंगता ।
भक्तिरित्युच्यते भीष्मप्रहलादोद्धवनारदै: ।।'

(नारद पंचरात्र)

भक्ति का रूप

श्रीविष्णु पुराण में भक्त प्रहलाद ने भक्ति के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए भगवान् से यह प्रार्थना की है --

नाथ ! योनिसहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम् ।
तेषु तेष्वचला भक्तिरच्युतास्तु सदा त्वयि ।।
या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वन पायिनी ।
त्वामनुस्मरत: सा मे हृदयान्माऽपसर्पतु ।।[१]

अर्थात् हे नाथ ! मैं अपने कर्म-फल के वशीभूत होकर जिन-जिन सहस्रों योनियों में विचरण करूं, उन-उन सभी योनियों में सदैव मेरी निश्चला भक्ति आपके प्रति बनी रहे और जैसे-जैसे अविवेकी मूढ़ विषय परायण मनुष्यों की विषयों में अविचल आसक्ति रहती है, वैसे ही आपका स्मरण करते हुए आपके प्रति मेरी भी निश्चल प्रीति बनी रहे, मेरे हृदय से कभी दूर न हो ।

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि भक्ति स्वभाव से ही रस रूप, दिव्य एवं चिन्मय है । अथवा यों कहें कि वह तत्व ज्ञान रूपी फल का

१-

अनुपम रस है । भक्ति रसके सदृश दूसरा रस नहीं है । यह कहना कि भक्ति में ही रस है --कोई अत्युक्ति नहीं है । जिस तत्व में क्लान्ति अथवा तृप्ति न हो उसे ही रस कहा जा सकता है । क्लान्ति और तृप्ति से रहित तत्व स्वरूप से ही अगाध तथा अनन्त है । भक्ति वह प्यास है, जो कभी बुझती नहीं, नष्ट नहीं होती अपितु उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है ।

भक्ति और भक्त

भक्ति जिसके प्रति होती है तथा जिसे होती है-- उन दोनों को नित्य नव-रस प्राप्त होता रहता है,क्योंकि भक्ति 'भक्त का जीवन' और 'उनका स्वभाव' है, जिनकी वह भक्ति है । इतना ही नहीं,भक्ति के माध्यम से भक्त का अस्तित्व उनसे अभिन्न होता है, जिनके प्रति भक्ति उदय होती है ।

भक्त को, जिनकी सत्ता में कोई सन्देह नहीं-- उन्हीं के प्रति भक्ति स्वीकार्य होती है । जिसकी सत्ता स्वीकार कर ली जाती है,उसमें विश्वास स्वयमेव हो जाता है । जिसमें विश्वास हो जाता है, उससे नित्य सम्बन्ध स्वाभाविक है । नित्य सम्बन्ध होते ही सभी अनित्य सम्बन्ध स्वत: मिट जाते हैं और उनके मिटते ही अखण्ड स्मृति अपने-आप होती है । अखण्ड स्मृति होते ही दूरी, भेद तथा विस्मृति विनष्ट हो जाती है । दूरी के नाश होने में योग,भेद के नाश होने में बोध तथा विस्मृति के नाश होने में आत्मीयता स्वत: सिद्ध है ।

इतना ही नहीं, ऐसा कोई प्राणी है ही नहीं,जो किसी-न-किसी का भक्त न हो,क्योंकि सम्बन्ध शून्य कोई व्यक्ति नहीं है । जिसका किसी से सम्बन्ध नहीं है,उसका सभी से सम्बन्ध है । जिसका सभी से सम्बन्ध है, वह किसी से विभक्त नहीं हो सकता । अत: इसका रेखा-चित्र इस प्रकार हो सकता है --

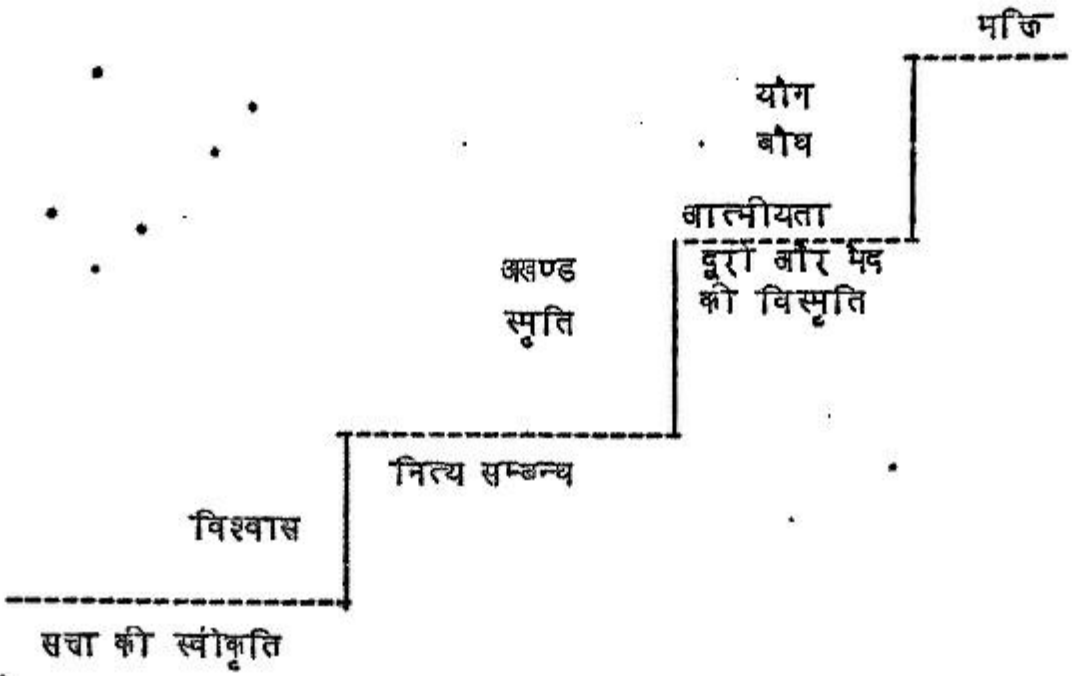

इस प्रकार जो विभक्त नहीं हो सकता, वह भक्त है और उसी का जीवन भक्ति है ।

(क) प्राचीन साहित्य में भक्ति का निर्देश

वेदों में भक्ति

ज्ञान,कर्म एवं उपासना-- इन तीनों मार्गों का निर्देश वैदिक साहित्य (वेदत्रयी) से ही होता है । इन्हीं मार्गों का अनुसरण कर मानव मनोवांछित फल प्राप्त करता है ।

ज्ञान का सम्बन्ध बुद्धि से है, वह हमें हमारे लक्ष्य (ईश्वर-दर्शन) का बोध कराता है । कर्म क्रमश: बुद्धि और श्रद्धा-विश्वास के माध्यम से लक्ष्य प्राप्ति में सहायक होता है और उपासना उस लक्ष्य के समीप हमें आसीन कर देती है । उपासना का अर्थ ही है कि प्रभु के समीप बैठना ।

भक्ति के क्षेत्र में इस वेदत्रयी (ज्ञान,कर्म और उपासना) की प्राप्ति के लिए विशिष्ट उपादानों का आश्रय ग्रहण किया जाता है । ज्ञान से ईश्वर के विभिन्न रूपों तथा गुणों का अनुभव होता है । अत: इसके लिए भक्ति में स्तुति का अंग रखा गया है । कर्म में पाप और पुण्य के द्वन्द्व की स्थिति से मुक्ति प्राप्त करने की दृष्टि है । अत: इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए भक्ति-- प्रार्थना और आत्म-निवेदन को आवश्यक समझती है । उपासना-भक्ति के क्षेत्र में प्रेम से सम्बद्ध हो जाती है[१] । इस प्रकार भक्ति के ये तीनों अंग प्रकारान्तर से वेदत्रयी द्वारा प्रतिपादित ज्ञान,कर्म और उपासना के त्रिमार्ग का अनुसरण करते हैं -- जिसका लेखा चित्र इस प्रकार हो सकता है :-

वेदत्रयी			भक्ति		
ज्ञान	कर्म	उपासना	स्तुति	प्रार्थना और आत्म निवेदन	प्रेम

१- करम, उपासन ग्यान वेदमत सो सब भांति खरो ।
मोहि तो सावन के अंधहि ज्यों सूझत रंग हरो ।।
--तुलसीदास-विनयपत्रिका,पद २२६

इन त्रिमार्गों का अवलम्ब ग्रहण कर साधक ईश्वर-दर्शन के लिए अग्रसर होता है ।

अब प्राचीन साहित्य में उपास्य के रूप में ईश्वर का रूप, गुणों के आधार पर उपासना का रूप तथा उपासक मनोवृत्ति आत्म निवेदन आदि पर प्रकाश डालना आवश्यक है --

(१) प्राचीन साहित्य में उपास्य के रूप में ईश्वर का रूप

ईश्वर सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक, अन्तर्यामी, सत्-चित्-आनन्द स्वरूप एक सत्ता सम्पन्न है । वह एक होते हुए भी अनेक नामों से विभूषित किया जाता है । इन्द्र, अग्नि, वरुण, मित्र, सुपर्ण, गरुत्मान आदि विविध नामों से पुकारा जाता है । यथा ऋग्वेद से स्पष्ट है --

'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यस्सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा: बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहु: ।।' [१]

ऋग्वेद में ईश्वर के लिए, 'स हि ऋतु: , स मर्य:, स साधु:' [२] कहा गया है । अर्थात् वही सृष्टिकर्ता, पालक तथा संहारक है ।

'यजुर्वेद' में ईश्वर के विभिन्न रूप कहे हैं । वही अग्नि, सूर्य, वायु:, चन्द्रमा, शुक्र, जल तथा प्रजापति के रूप में पूज्य था --

'तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमा: ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आप: स प्रजापति: ।।' [३]

'यजुर्वेद' में उसकी सत्ता सर्वत्र स्वीकार की गई है --

'तद्दूरे तदन्तिके । तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यत: ।।

कहकर अन्तर्यामी रूप में सबके भीतर तथा बाहर विद्यमान बतलाया गया है ।

१- ऋग्वेद (१।१६४।४६)
२- ,, (१।७७।३)
३- यजुर्वेद (३२।१)

'अथर्ववेद' में भी ईश्वर को सर्वव्यापी बतलाते हुए अन्तर्यामी कहा गया है । वह मानवीय सम्पूर्ण गोपनीय कार्यों का ज्ञाता है --

'यस्तिष्ठति चरति यश्च वंचति यो निलायं चरति यः प्रतंकम् ।
द्वौ सन्निषद्य यन्मंत्रयेते, राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः ।।'[१]

अर्थात् जो मनुष्य, बैठता है या चलता है, या दूसरों को ठगता है, या छिपकर काम करता है या दूसरों को आतंकित करता है, या दो मनुष्य बैठकर कुछ गुप्त मंत्रणा करते हैं, इनसे पृथक् तीसरा वरणीय ईश्वर इन सब के कार्यों को जानता है ।

'सामवेद' में भी ईश्वर को सर्वशक्तिमान् तथा सर्वव्यापी कहा गया है ।

ब्राह्मण ग्रन्थों में भी विभिन्न रूपों में ईश्वर की सत्ता स्वीकार की गई है । 'शतपथ ब्राह्मण'[२] में ईश्वर का प्रेम-पात्र बनने के लिए साधक नतमस्तक होता है[३]। इसी प्रकार 'ऐतरेय ब्राह्मण' तथा 'गोपथ ब्राह्मण'[४] में 'ओ३म्' नाम की महत्ता स्वीकार करते हुए ईश्वर को सर्वश्रेष्ठ माना गया है ।

उपनिषदों में विभिन्न रूपों में ईश्वर की स्तुति का विधान प्राप्त होता है । ईशोपनिषद्(अध्याय४,वल्ली ८), कठोपनिषद् (अध्याय २, वल्ली १५), तैत्तिरीयोपनिषद् (८,१), छान्दोग्य उपनिषद् (३,१२-६), बृहदारण्यकोपनिषद् (३, ८-९) तथा श्वेताश्वतरोपनिषद् (६,११-१४) आदि में ईश्वर की स्तुति का उच्च रूप परिलक्षित होता है । इसके साथ ही साथ मैत्र्युपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद्, मुण्डकोपनिषद्, श्वेताश्वतरोपनिषद् आदि में शिव,रुद्र,विष्णु,अच्युत,नारायण आदि को

१-अथर्ववेद (१।१६।२)
२-शतपथ ब्राह्मण (३-२२)
३-ऐतरेय ब्राह्मण (१-३-१२)
४-गोपथ ब्राह्मण (१-२२)

ईश्वर का ही रूप बतलाकर उनकी उपासना का निर्देश किया है ।

श्रीमद्भागवत में ईश्वर की महत्ता अवतारी पुरुष श्रीकृष्ण के रूप में स्वीकार की गई है । भागवत् में श्रीकृष्ण को ही सर्व-शक्तिमान कहा गया है तथा उन्हीं की भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ मानी गई है --

'दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमै: ।
श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यै: कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते ।।'[१]

उनकी विभूतियों, सगुण अवतारों तथा लीलाओं का बड़ा ही रसपूर्ण वर्णन किया गया है ।

इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि ऋग्वेद से लेकर भागवत् तक के सम्पूर्ण साहित्य में ईश्वर-- उपास्य-देव के रूप में प्रतिष्ठित है । उनकी उपासना का विकास-क्रम निम्न रूपों में रहा । सर्वप्रथम वे ईश्वर के रूप में 'एकसत्ता' वाले स्वीकार किये जाते रहे । कालान्तर में वैदिक साहित्य में 'विप्रा: बहुधा वदन्ति' कहकर उनकी अनेकरूपता स्वीकार की गई । उनके भिन्न-भिन्न रूपों के साथ उनके कार्य भी भिन्न-भिन्न रहे । आगे चलकर उपनिषदों में ईश्वर का विकास, जो भिन्न-भिन्न कार्यों एवं भिन्न-भिन्न नामों में हो रहा था, वह केवल भिन्न-भिन्न नामों में ही शेष रह गया-- कार्यों की एकता हो गई । श्रीमद्भागवत् में आकर कार्यों की विविधता तथा नामों की विविधता का केन्द्रीकरण हो गया । उपास्यदेव के रूप में केवल श्रीकृष्ण की उपासना स्वीकार की गई । तात्पर्य यह कि आराध्य की भावना में मानसिक रूप से केन्द्रीकरण हुआ और वह केवल एक इष्टदेव श्रीकृष्ण की आराधना के रूप में । कहने का अभिप्राय यह कि ईश्वर के विकासक्रम में वेदों में बाह्य कर्मकाण्ड की प्रधानता थी । उपनिषदों में बाह्य तथा अन्तर दोनों कर्मकाण्ड स्वीकार्य हुए तथा श्रीमद्भागवत में आकर केवल अन्तर-कर्मकाण्ड ही ग्राह्य हुआ । उपासना का केन्द्र 'भक्ति' हुआ तथा इष्टदेव और भक्त में केवल मानसिक अन्तर शेष रह गया, जिसका स्पष्टीकरण निम्न रेखा-चित्र से किया जा सकता है :-

---

१- श्रीमद्भागवत (१०,४७,२४)

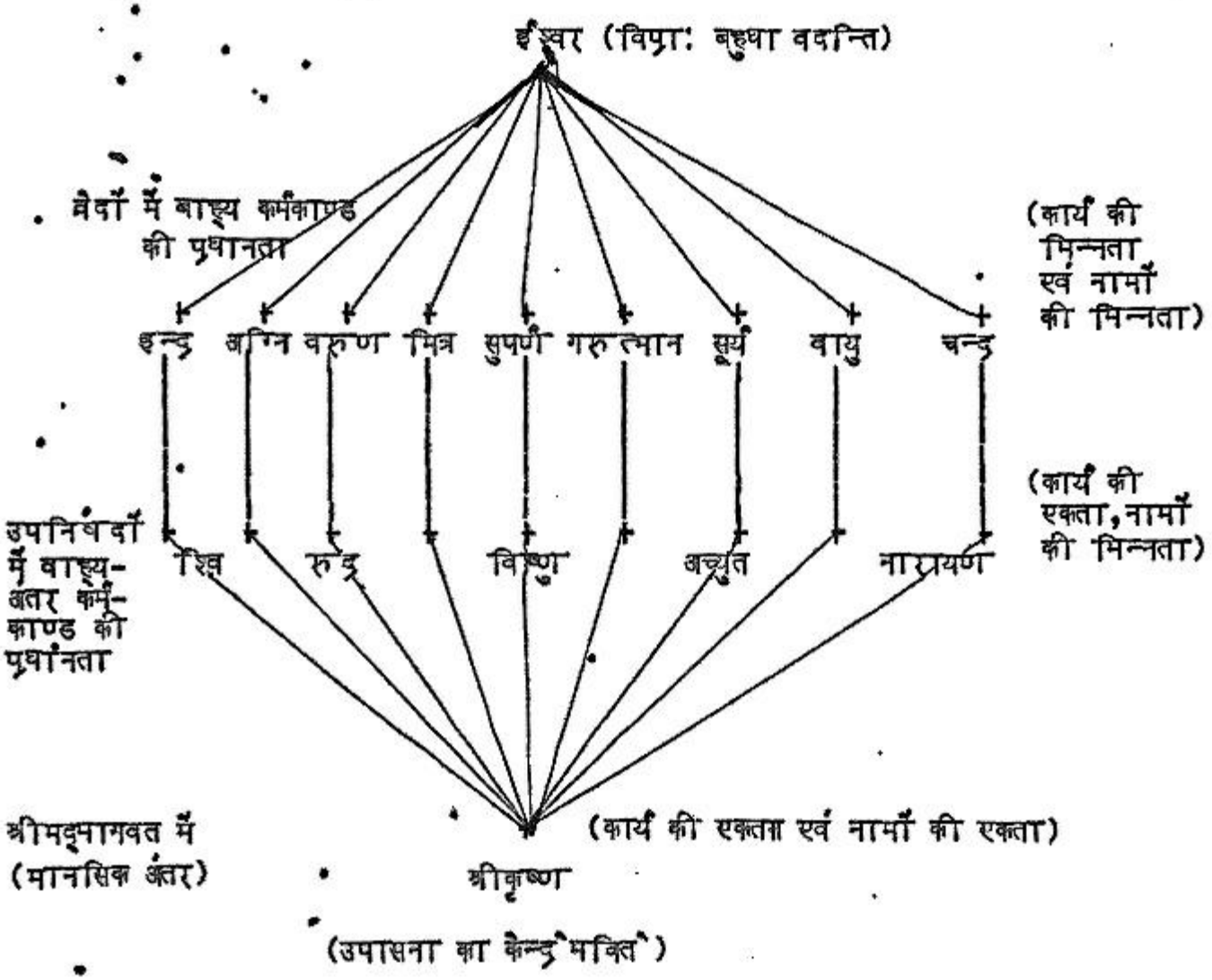

(२) गुणों के आधार पर उपासना का रूप

वैदिक काल से ही विभिन्न देवताओं की उपासना, उनके गुणों के आधार पर की जाने लगी। अपने विशिष्ट गुणों के कारण ही ये देवतागण भिन्न-भिन्न रूपों में उपास्य देव के रूप में स्वीकार किये गये।

इन्द्र

इन्द्र का विशिष्ट गुण है 'वृष्टि करना'। सूर्य की रश्मियों से रस लेकर, वायु से गति प्राप्त कर जो संसार में वृष्टि करता है, उसे इन्द्र कहते हैं।

'रसान् रश्मिभिरादाय वायुनाऽयं गतः सह।
वर्षत्येव च यल्लोके तेनेन्द्र इति स्मृतः ॥'[1]

इस विशिष्ट गुण के कारण ही इन्द्र की उपासना की जाने लगी।

अग्नि

ऋग्वेद में इन्हें मानव-कार्यों का द्रष्टा कहा गया है। अग्नि का आवाहन करके ही वेदाध्ययन प्रारम्भ किया जाता था। उपनयन संस्कार में इनसे प्रार्थना की जाती है कि 'हमें प्रज्ज्वलित करो, जिससे हमारा विकास हो।' अग्नि तेज का प्रतीक है। अग्नि से तात्पर्य 'आग' से है। आग की आवश्यकता सभी को पड़ती है, इसलिए यह 'नाराशंस' है, यानी सभी नर इसकी स्तुति करते हैं।

वरुण

मध्यम श्रेणी के देवता होते हुए भी इनके प्रभाव या आवरण की मर्यादाओं में सब कुछ है[2]। ये विश्व के शासक तथा प्रबन्धकर्ता हैं। अपराधियों को दण्ड देने वाले तथा पापियों को वरुण-पाश में बांधने वाले हैं। सदाचार के स्वामी हैं। इन विशिष्ट गुणों के कारण ही इनकी उपासना की जाने लगी।

१- बृहद् देवता (१।७३।६८)
२- वरुणो वृणोतीति सतः -- निरुक्त।

मित्र

ऋग्वेद में मित्र तथा वरुण की पूजा एक साथ होती है तथा एक ही मन्त्र या ऋचा में वरुण देवता के साथ इनका उल्लेख प्राप्त होता है।

मरुत

ऋग्वेद में इनका प्रमुख स्थान है। इन्हें नियमित वैभव (मितरोचनो), नियमित नाद(मितरुविणी), तथा अधिक दौड़ने वाले देवता कहा गया है। ये सूर्य के साथ आते हैं तथा खेती के कार्य में इनका पूजन होता है।

इसी प्रकार यजुर्वेद में ईश्वर के विभिन्न रूप, विभिन्न कार्यों के आधार पर रहे हैं।

सूर्य

वेदों में 'सूर्यो ज्योतिरजायत' कहा गया है। इन्हें तेजोमय कहा गया है। 'सूर्य' शब्द 'सू' धातु से उत्पन्न हुआ है। 'सू' का तात्पर्य है जो गति करे, जो अनुप्राणित करे। सूर्य, देवताओं के चक्षु हैं। ये सर्वत्र भूमण्डल पर विचरण कर जीवों की, मनुष्यों की गतिविधियों को देखते हैं। वेदों के अनुसार सूर्य ही मनुष्यों को जागकर अभीष्ट कार्य करने में प्रवृत्त करते हैं। ये प्रतिज्ञा के देवता हैं[१]। अग्नि तथा वायु के साथ इनका आवाहन-पूजन होता है।

चन्द्रमा

वेद में 'चन्द्रमा मनसो जातः' कहा गया है। चन्द्रमा मन के देवता हैं। इसकी उत्पत्ति 'चदि(धातु)+रक्' से हुई। वेद में

१- हिरण्य० (१,२,७,१०)

इनकी उपासना का निर्देश किया गया है ।

वायु

'वायु' शब्द 'वा' (बहना) से उद्भूत हुआ है । ऋग्वेद में इन्हें सोम रस के शौकीन, सोमदेव के रक्षक, अग्नि देव के समान मनुष्य के प्रत्येक कार्य के साक्षी, प्रतिज्ञा के साक्षी तथा शत्रु के विनाशक (हवा में उड़ा देने वाले) कहा गया है ।

तात्पर्य यह कि वेदों में इन देवताओं के गुणों के आधार पर ही इनकी उपासना की जाने लगी, यद्यपि ये सभी हैं उस एक 'ईश्वर' के ही रूप ।

उपनिषदों में आकर उसी एक ईश्वर के ही विभिन्न रूप प्राप्त होते हैं । शिव, रुद्र, अच्युत, नारायण -- 'ईश्वर' के ही रूप हैं । शिव की उत्पत्ति 'शो + वन्' से हुई है । शिव, कल्याण-सूचक (मंगलकारी) हैं । 'रुद्र' शब्द 'रुद् + रक' से बना है, जिनका सम्बन्ध रोने से है ।

अच्युत

'स्वरूपसामर्थ्यात् न च्युतः' इति अच्युतः ।

तात्पर्य यह कि जो अपने विचार में दृढ़ रहे, स्थिर रहे उसे अच्युत कहते हैं ।

नारायण

'नार' नाम जल ही जिसका निवास-स्थान है, वही 'नारायण' है ।

कालान्तर में 'श्रीमद्भागवत्' में आकर ईश्वर की उपासना एक ही उपास्य देव श्रीकृष्ण के रूप में की गई । 'श्रीकृष्ण' शब्द कृष् (धातु) + नक् (प्रत्यय) से उद्भूत हुआ है । जिसका अर्थ है-- खींचना, आकर्षण करना । इन गुणों के आधार पर श्रीकृष्ण की उपासना इष्टदेव के रूप में सर्वत्र स्वीकार की गई ।

(३) उपासक मनोवृत्ति

आत्मनिवेदन

ईश्वर का कृपा-पात्र बनने के लिए ही साधक आत्म-निवेदन करता है। विश्व की उलझनों में पड़कर जब मानव परिश्रान्त हो उठता है तो भक्ति-भावना से प्रेरित होकर ईश्वर की शरण खोजने लगता है। निराश्रित हो, उसकी आत्मा पुकार उठती है। यह पुकार ही आत्म-निवेदन है, भक्ति-भावना का प्रथम चरण है। वैष्णव धर्मावलम्बियों ने आत्म-निवेदन को छः कोटियों में विभाजित किया है। यह विभाजन 'अहिर्बुध्न्य संहिता' के अनुसार है --

अनुकूल का संकल्प

साधक ईश्वर प्राप्ति हेतु अनुकूल साधनों को अपनाने का संकल्प करता है, जो ऋग्वेद से स्पष्ट है --'साधक कहता है कि आज मैं निष्कलुष होकर ऐसे साधनों का अवलम्बन लेता हूं, जो निःसन्देह कल्याणकारी हैं। ये नाव रूपी साधन भली भांति रक्षा-शक्तियों से युक्त हैं, विशाल हैं, प्रकाशमय हैं, अनिष्ट रहित हैं, सुखदायी हैं, सुन्दर पथ पर ले जाने वाले तथा दृढ़ हैं।'[१]

प्रतिकूल का त्याग

मैं माया के पथ का अनुसरण नहीं करूंगा। यह तो अत्यन्त दुर्गम है। विषय-वासनाओं की ओर आकृष्ट करने वाले साधनों का अवलम्बन नहीं ग्रहण करूंगा, क्योंकि इनका परिणाम तो भयंकर ही होता है[२]।

१- ऋग्वेद (८,६३,१०)
२- ,, (४,१८,२)

गोप्तृत्ववरण

ईश्वर को अपने रक्षक के रूप में वरण करना, स्वीकार करना ही गोप्तृत्ववरण है।

रक्षा का विश्वास

कभी-कभी झंझटों में उलझ कर जब साधक, भक्ति-पथ से विचलित होने लगता है, तो न जाने कहां से ईश्वर की रक्षा की छाया उसपर छा उठती है और साधक शीतलता का अनुभव करता हुआ साधना में लीन हो जाता है। ऋग्वेद में कहा गया है --

"इन्द्रो अङ्ग महद्भयम् अभीषत् अप्रचुच्यवत्।
स हि स्थिरो विचर्षणिः ॥" [१]

ईश्वर सब कुछ निर्निमेष दृष्टि से देख रहे हैं। सम्मुख उपस्थित बड़े-से-बड़े भय को भी विनष्ट कर देते हैं। अतः साधकों को भयभीत नहीं होना चाहिए।

आत्म निक्षेप

साधक, ईश्वर के चरणों में अपने-आपको अर्पित कर देना चाहता है। वह पुकार उठता है कि हे ईश्वर! मेरी यह इच्छा है कि अपने-आपको तुम्हें दे दूं। मेरी मतियां तुम्हारे अन्दर समा जाने के लिए ही विस्तृत हो रही हैं[२]।

कार्पण्यः

अपने दुःखों के निवारणार्थ, साधक, ईश्वर के समक्ष करुण-क्रन्दन करता है --

---

१- ऋग्वेद (२,४१,१०)
२- ,, (७,२६,३)

"मूषो न शिश्ना वदन्ति माथः स्तोतारं ते शतक्रतो ।
सकृत्सु नो मघवन्निन्द्र मृळयाधा पितेव नो भव ।।"[१]

हे परम शक्तिशाली ईश्वर, मैं तेरा गुणगान गाता हूं, तेरी स्तुति करता हूं, किन्तु मुझे मानसिक शान्ति उपलब्ध नहीं होती । व्याधियां, मानसिक वेदनाएं मुझे वैसे ही खा रही हैं, जैसे चूहा आटे से लिपटे सूत को खाता है । हे पिता ! एकमात्र तुम्हीं मेरे रक्षक हो । इन दुःखों से तो मेरा उद्धार कर दो ।

'लक्ष्मीतन्त्रसंहिता' में भी आत्मनिवेदन के इन्हीं अंगों का उल्लेख हुआ है । कुछ आचार्यों ने इसके सात विभाग किए हैं, जो निम्नलिखित हैं--

दीनता, मानमर्षेण, भयदर्शन, भर्त्सना, मनोराज्य, आश्वासन और विचारणा ।

इस प्रकार उपासक अपने को ईश्वर के चरणों में अर्पित कर आत्म-निवेदन करता है ।

१- ऋग्वेद (७,२९,३)

(ख) धर्म की व्यवस्था में भक्ति

प्राचीन काल से ही मानव-जीवन के विकास में धर्म का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। यह 'धर्म' शब्द 'धृ' धातु से उद्भूत हुआ है। जिसका अर्थ है, धारण करना। धर्म, मानव प्रकृति द्वारा ईश्वर के अनुसंधान की प्रतिक्रिया है और आवश्यक वस्तुओं के प्रवाह में है, ऐसी वस्तु जो सत्य है, फिर भी ज्ञात होने की प्रतीक्षा में है। ऐसी वस्तु जो दुरातीत सम्भावना है; फिर भी महत्तम वर्तमान सत्य है, ऐसी वस्तु जो सभी घटनाओं को अर्थ प्रदान करती है, फिर भी जिसका अर्थ नहीं निकलता, ऐसी वस्तु जिसकी प्राप्ति आखिरी अच्छाई है, फिर भी जो पहुंच के परे है[1]। महात्मा गांधी का कथन है कि --" धर्म वस्तुत: एक ही लक्ष्य की ओर ले जाने वाले विभिन्न मार्ग हैं, जब हम एक ही लक्ष्य पर पहुंचना चाहते हैं तो किसी भी मार्ग से जाने में क्या अन्तर पड़ता है ?"

धर्म ही ईश्वर की भक्ति का प्रथम चरण है। धर्म ने जीवन को शिव अर्थात् सदाचारपूर्ण, प्रेममय, सहनशील और न्यायप्रिय, सुन्दर अर्थात् मनुष्य को अपने केन्द्र तथा आदर्श से च्युत स्थिति से ऊपर उठाकर सत्य या पूर्ण बनाने की चेष्टा की है[2]।

इस धर्म से ही मानव के अन्तर्गत सात्विक वृत्तियों का अवधारण होता है। धर्माचरण के फलस्वरूप ही सतो-गुण का उत्तरोत्तर विकास होता है। कभी-कभी धर्म के विकास में रजोगुण और तमोगुण भी सहायक होने लगते हैं, किन्तु प्रधानता सतोगुण की ही रहती है।

सत्व-गुण का पूर्ण विकास होते ही मानव को सत्य और शिव का दर्शन होने लगता है। हंस की भांति उसमें नीर-क्षीर विवेक की सामर्थ्य आ जाती है और वह हंस न रहकर परमहंस बन जाता है। किसी वस्तु

१- ज्ञानोदय (अप्रैल१९५९) प्रो०ह्वाइटहेड--धर्म और विज्ञान का संघर्ष से अवतरित।
२- श्रीकृष्णाव्यंकटेश पुणताम्बेकर--भारतीय लोक-नीति और सभ्यता, पहला खण्ड, पृ०५१।

के सत्य का वास्तविक ज्ञान उसे हो जाता है। सत्य और असत्य के निर्णय की क्षमता उसमें आ जाती है, जो उसके जीवन को शिव अर्थात् कल्याणकारी बना देती है।

मानव-जीवन में सत्य-दर्शन के फलस्वरूप ही श्रद्धा का उदय हो जाता है। जब तक ईश्वर के प्रति श्रद्धा का भाव जागृत नहीं होता, तब तक उस सत्ता के प्रति किसी प्रकार का प्रेम उत्पन्न नहीं होगा। बिना श्रद्धालु बने किसी सत्ता का अस्तित्व स्वीकार्य नहीं।

किसी सत्ता के प्रति श्रद्धा-भाव के जागृत हो जाने पर, मानव स्वत: उसकी ओर उन्मुख हो जाता है-- झुक पड़ता है, जिसके कारण सहज रूप में ही प्रेम की भावना उत्पन्न हो जाती है, जिसके बिना भक्ति संभव नहीं।

मुनियों के मन को हरण करने वाले भगवान् के अद्भुत स्वरूप को देखकर माता कौशल्या प्रसन्न हुईं, किन्तु उनके मन में वात्सल्य भाव नहीं उत्पन्न हुआ। भगवान् की इस लीला को समझ कर वे बोलीं -- 'कीजै शिशु लीला, अति प्रिय शीला, यह सुख परम अनूपा।' माता के हृदय में पुत्र के प्रति प्रेम-भाव जागृत करने के लिए ही भगवान् ने अपना अद्भुत रूप त्याग कर रोना प्रारम्भ किया। --' सुनि वचन सुजाना, रोदन ठाना, होइ बालक सुर भूपा।'

उसी भगवान् की भक्ति के लिए सुर, नर, मुनि --सभी ने प्रेम का ही माध्यम ग्रहण किया। देवर्षि नारद ने भगवान में अनन्य प्रेम को ही भक्ति कहा तथा भक्ति को 'परम प्रेम-रूपा' कहा।[१] प्रेम के आलोक में ही सूफी साधक परमात्मा के वैभव एवं ऐश्वर्य को देखता है। सन्तों ने भी उस प्रेम-रस को ही श्रेष्ठ कहा है। जिसका 'खुमार' कभी समाप्त ही नहीं होता।

१- नारद भक्तिसूत्र (२,३)

'राम रसायन प्रेम रस। पीवत अधिक रसाल'[1]।

तथा --

हरि रस पीया जानिये, जे कबहुं न जाय खुमार'[2]।

तात्पर्य यह कि प्रेम की प्रगाढ़ता हो जाने पर भक्ति का उदय हो जाता है। बिना प्रेम के भक्ति सम्भव नहीं। इसीलिए सन्तों ने 'प्रेम-रूपा भक्ति' को प्रधानता दी है। प्रेम ही भक्ति का मेरुदण्ड है, जिसके बिना भक्ति का कोई अस्तित्व नहीं।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि धर्म से प्रारम्भ होकर विभिन्न सोपानों से होता हुआ ही भक्ति का उच्चस्तरीय विकास हुआ। जिसका रेखा-चित्र निम्नप्रकार से दिया जा सकता है :-

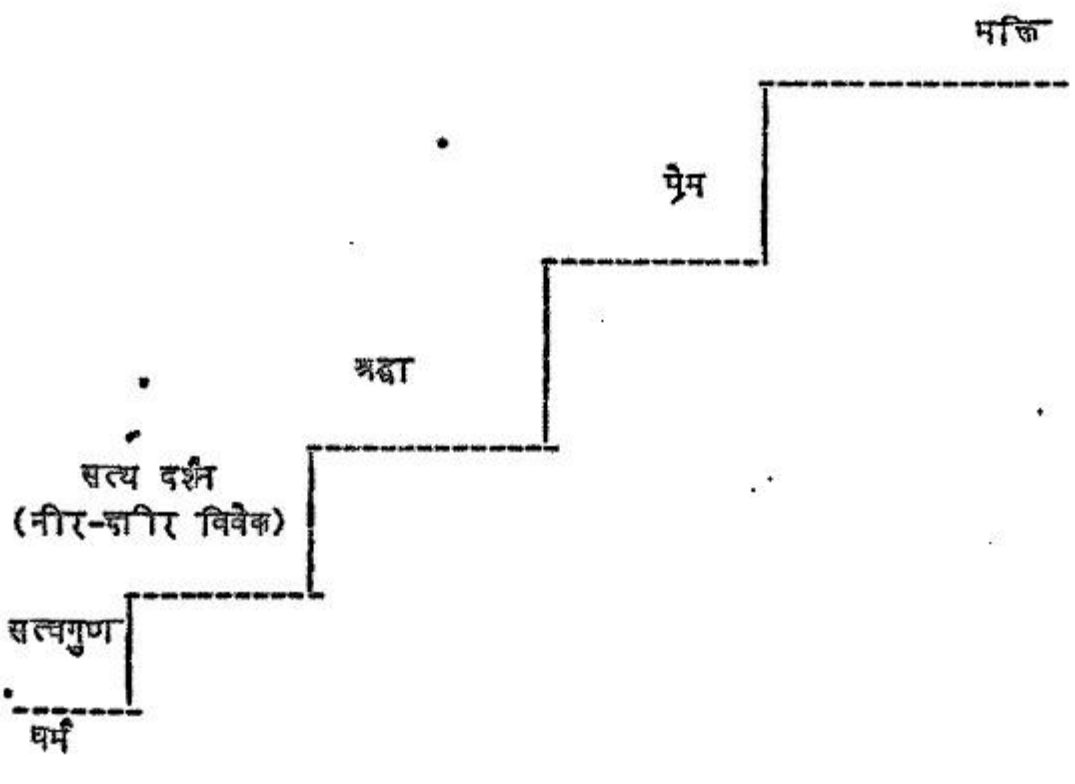

१- कबीर ग्रन्थावली, पृ० १६
२- ,, पृ० १६

(ग) भक्ति के आवश्यक तत्व

शाण्डिल्य भक्ति सूत्र तथा नारद भक्ति सूत्र-- ये दो प्राचीन भक्ति-ग्रन्थ हैं, जिसकी रचना गुप्तकाल के पूर्व ही हो चुकी थी। इनमें शाण्डिल्य भक्ति सूत्र, नारद भक्ति सूत्र की अपेक्षा अधिक प्राचीन है, क्योंकि नारद भक्ति सूत्र के १८ वें सूत्र में --'आत्मस्वविरोधेनेतिशाण्डिल्य:' कहा गया है। नारद द्वारा शाण्डिल्य नाम का प्रयोग इस बात का सूचक है कि शाण्डिल्य भक्ति सूत्र की रचना, नारद भक्ति सूत्र से बहुत पहले हो चुकी थी। ये दोनों ही ग्रन्थ श्रीमद्भागवत् पर आधृत हैं, जिनमें भक्ति का सैद्धान्तिक विवेचन किया गया है। नारद भक्ति सूत्र, शाण्डिल्य भक्ति सूत्र की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय है, जिसका कारण उसकी सरसता और बोधगम्यता है। सन्त कबीर पर भी नारद भक्ति सूत्र की ही छाप ज्ञात होती है। अब हम इन दोनों भक्ति परक ग्रन्थों का अला-अलग विवेचन करेंगे :--

शाण्डिल्य भक्ति सूत्र

शाण्डिल्य भक्ति सूत्र ही ऐसा प्रारम्भिक ग्रन्थ है, जिसमें सर्व प्रथम भक्ति का शास्त्रीय विवेचन प्राप्त होता है। यद्यपि इस ग्रन्थ से पूर्व भी काश्यप और वादरायण का उल्लेख प्राप्त होता है, जिसका निर्देश इस ग्रन्थ की सूत्र संख्या २९, ३० में 'तामेस्वयं परां काश्यप परत्वात्' तथा 'आत्मैकपरांवादरायण:' कहकर किया गया है। तात्पर्य यह कि इन शाण्डिल्य के पूर्व भी काश्यप और वादरायण ने भी भक्ति की व्याख्या की होगी, किन्तु उनके ग्रन्थ अप्राप्य हैं। इस भक्ति सूत्र में कुल १०० सूत्र हैं। महर्षि शाण्डिल्य ने सूत्र संख्या २ में भक्ति को 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' कहा है। अर्थात् यह भक्ति ईश्वर के प्रति परम अनुरक्ति स्वरूपा है। सूत्र संख्या ३ में 'तत्संस्थास्या-मृतत्वोपदेशात्' कहा है। तात्पर्य यह कि ईश्वर में जिसकी सच्ची भक्ति होती है, वह अमृतत्व को प्राप्त होता है। यह भक्ति 'तयोपदायाच्च'।।५।। तथा

"द्वेषप्रतिपक्षभावाद्रसशब्दाच्चरागः" ।।६।। है । अर्थात् द्वेष की विरोधिनी तथा रस शब्द से प्रतिपाद्य होने से राग स्वरूपा है । "सा मुख्येतरापेक्षित्वात्" ।।१०।। अर्थात् यही मुख्य है और इतर साधन (ज्ञान योगादि) इसकी अपेक्षा रखते हैं । यह भक्ति "हेया रागत्वादिति चेन्नोपासास्पदत्वात्" है, अर्थात् स्वयं रागात्मिका है । क्योंकि ईश्वर विषयक राग ही भक्ति है । योग की तरह इसका राग से किसी भी प्रकार का विरोध नहीं है । आचार्य काश्यप के अनुसार "तामैश्वर्यपरां काश्यपः परत्वात्" ।।२६।। सूत्र से यह प्रकट होता है कि भक्ति ऐश्वर्यपरा अर्थात् ईश्वर के ईश्वरत्व में होती है । क्योंकि ईश्वर सब जीवों से परे है । आचार्य बादरायण उसे "आत्मैकपरा" अर्थात् आत्म रति रूप में स्वीकार करते हैं । कारण यह है कि जीवात्मा और परमात्मा का भेद कल्पित है -- वास्तविक नहीं है --"आत्मैकपरा बादरायणः" ।।३०।। किन्तु शाण्डिल्य भक्ति सूत्र ।।३१-३२।। में उसे उभयपरा माना गया है ।

भगवान् के प्रति एकान्तभाव या अनन्य प्रेम ही पराभक्ति है ।।सूत्र ८३।। इसके अतिरिक्त सूत्र ।।६४।। में "अबन्धोऽपरास्य मुखम" कहा गया है -- तात्पर्य यह कि भगवान् को समर्पित किया हुआ कर्म, बन्धन कारक नहीं होता । यह बन्धन हीनता ही पराभक्ति की प्राप्ति का मुख(द्वार) है । ।।सूत्र ७२।। में पराभक्ति की प्राप्ति में सहायक गौणी भक्ति के तीन भेद-- आर्त भक्ति, जिज्ञासा भक्ति तथा अर्थार्थिता भक्ति का उल्लेख प्राप्त होता है ।।।सूत्र७६।। में स्मरण, कीर्तन आदि का महत्व तथा ।।सूत्र ७८।। में भक्ति की सर्वग्राह्यता बताई गई है । भक्ति में उच्च जाति से लेकर चण्डालादि तक के नीच व्यक्तियों को समान अधिकार है । सूत्र ।।९९-१००।। में ईश्वर के प्रति अनन्य भक्ति को ही श्रेयष्कर माना गया है । इस भक्ति के माध्यम से ही ईश्वर-दर्शन सम्भव है ।

नारद भक्ति सूत्र

देवर्षि नारद ने ८४ सूत्रों की रचना कर इस ग्रन्थ का प्रणयन किया । ये सभी सूत्र, भक्ति से ही सम्बन्धित हैं,यथा--

'सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा ।।२।। अमृतस्वरूपा च।।३।।यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति ।।४।। यत्प्राप्य न किंचिद्वांछति, न शोचति, न द्वेष्टि, न रमते, नोत्साही भवति ।।।५।।

अर्थात् देवर्षि नारद के अनुसार भगवान् में अनन्य प्रेम हो जाना ही भक्ति है । वह अमृत स्वरूपा है, जिसे प्राप्त कर मनुष्य सिद्ध हो जाता है । इस भक्ति के प्राप्त हो जाने पर मनुष्य को किसी वस्तु के पाने की इच्छा शेष नहीं रह जाती । न वह शोक करता है, न द्वेष, तथा न तो किसी वस्तु में आसक्त होता है और न (विषय-वासनाओं के प्रति) उत्साह ही करता है ।

'यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति, स्तब्धो भवति, आत्मारामो भवति ।।६।। सा न कामयमाना निरोधरूपत्वात् ।।७।। तथा निरोधस्तु लोकवेद व्यापारन्यासः।।८।। तस्मिन्ननन्यता तद्विरोधिषूदासीनता च ।।९।। अन्याश्रयाणंत्यागेऽनन्यता।।१०।। लोक वेदेषु तदनुकूलाचरणं तद्विरोधिषूदासीनता ।।११।।

तात्पर्य यह कि जिसे जानकर मनुष्य आनन्द से मत्त, स्तब्ध और आत्माराम बन जाता है । यह प्रेमा भक्ति कामना रहित है, क्योंकि निरोध स्वरूपा(त्यागमयी) है । भगवद्भक्ति में लौकिक वैदिक कर्मों, भगवत् विरोधी सभी बातों तथा अन्य आश्रयों को त्यागना पड़ता है । भगवान् के अतिरिक्त अन्य आश्रयों का त्याग ही अनन्यता है तथा लौकिक एवं वैदिक कर्मों में भगवान् के अनुकूल कर्म करना ही उसके विपरीत विषय में उदासीनता है ।

इस भक्ति के विषय में विभिन्न विद्वानों की विभिन्न धारणाएं रही हैं । श्री व्यास जी ने 'पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः'

।।१६।। कहा है । तात्पर्य यह कि भगवान् की पूजा में अनुराग होना ही भक्ति है । 'कथादिष्विति गर्गः '।।१७।। गर्ग के मत से भगवान् की कथादि में अनुराग होना ही भक्ति है । 'आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः'।।१८।। शाण्डिल्य के मतानुसार आत्मरति के अविरोधी विषय में अनुराग होना ही भक्ति है । किन्तु देवर्षि नारद के मत से सम्पूर्ण कर्मों तथा आचारों को भगवान् के लिए अर्पण करना और उसके विस्मरण में परम व्याकुलता का अनुभव करना ही भक्ति है-- 'नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परम व्याकुलेति'।।१९।। तथा प्रेम रूपा भक्ति के विषय में कहते हैं कि 'सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा'।।२५।। क्योंकि वह 'फलरूपत्वात्' है ।।२६।। अर्थात् स्वयं अपना फल है । वह फल प्राप्ति की आकांक्षा से नहीं की जाती । किन्हीं-किन्हीं आचार्यों के मत से ज्ञान ही भक्ति का साधन है --'तस्या ज्ञानमेव साधनमित्येके'।।२८।। तथा अन्य आचार्य भक्ति और ज्ञान को अन्योन्याश्रित समझते हैं--'अन्योन्याश्रयत्वमित्यन्ये'।।२९।। परन्तु नारद जी के अनुसार भक्ति स्वयं फलरूपा है-- 'स्वयं फलरूपतेति ब्रह्मकुमाराः'।।३०।।

इस भक्ति की प्राप्ति का मुख्य साधन बड़ों(गुरु की) और भगवान् की लेशमात्र कृपा ही है --'मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा' ।।३८।। किन्तु 'महत्संगस्तुदुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च'।।३९।। महापुरुषों(संतजनों) का संग अत्यन्त दुर्लभ है । वह भी भगवान् की कृपा से ही प्राप्त होता है -- 'तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्'।।४१।। क्योंकि भगवान् और भक्त में अभेद है । 'तदेव-साध्यतां तदेव साध्यतां' ।।४२।। इसलिए उस (सत्संग) की ही साधना करो । नारद जी ने 'अनिर्वचनीयं प्रेम स्वरूपं'।।५१।। तथा 'मूकास्वादनवत्'।।५२।। कहा है । अर्थात् यह भक्ति प्रेम स्वरूपा है तथा गूंगे के स्वाद की भांति अनिर्वचनीय है । वह 'गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम'।।५४।। है । तथा प्रेमी --'तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति तदेव भाषयति तदेव चिन्तयति ।।५५।। अर्थात् इसे प्राप्त कर प्रेमी

प्रेम को ही देखता है, प्रेम को ही सुनता है, उसी का वर्णन करता है तथा उसी का ही चिन्तन करता है।

सूत्र ।।५८-६०।। में भक्ति को ज्ञान योगादि की अपेक्षा अधिक सुलभ कहा गया है। सूत्र।।६६-६८।। में निष्काम भाव से की गई भक्ति को श्रेष्ठ कहा गया है। निष्काम होकर नित्य दास्य और नित्य कान्ता भाव से भगवान् की अनन्य भक्ति करनी चाहिए। भक्तों में जाति-पाँति तथा कुल, धन, आदि का भेद नहीं है, क्योंकि सब भक्त भगवान् के ही हैं। सूत्र।।७२-७३।। तथा सूत्र ।।७४-८१।। में सम्यक् प्रकारेण भक्ति की श्रेष्ठता बतलाई गई है, इसलिए निश्चिन्त होकर भक्तों को सर्वभाव से भगवान् का भजन करना चाहिए।

(घ) मनोभाव एवं आचार

मनोभाव एवं आचार का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। जिस प्रकार भाव, अनुभाव तथा संचारी भाव के संयोग से रस-निष्पत्ति होती है, उसी प्रकार मनोभाव से आचार की निष्पत्ति होती है। जिस प्रकार स्थायी-भावों से रस उद्भूत होते हैं, यथा-- रति से शृंगार, हास से हास्य, शोक से करुण, क्रोध से रौद्र, उत्साह से वीर, भय से भयानक, जुगुप्सा से वीभत्स, आश्चर्य से अद्भुत तथा निर्वेद से शांत-- ठीक उसी प्रकार मनोभावों से आचार उद्भूत होते हैं। मनोभाव ही आचार की आधार-शिला है।

जिस प्रकार का मनोभाव होगा, ठीक उसी के अनुकूल, उसी से सम्बन्धित आचार भी होगा। जैसे-- ईश्वर के प्रति किसी भक्त की श्रद्धा है तो जो मनोभाव ईश्वर के प्रति उस भक्त के हृदय में है -- उसी से प्रेरित होकर उसी के अनुकूल ही आचार भी होगा। इस मनोभाव के दो पक्ष हैं--

(१) सगुण भक्तों के मनोभाव। तथा--

(२) निर्गुण भक्तों के मनोभाव।

प्रथम पक्ष में भक्त, ईश्वर के साकार रूप को स्वीकार कर श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य तथा आत्म-निवेदन[१] भाव व्यक्त कर भक्ति करता है। 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं' अर्पित करता है। उसे स्नान कराना, चन्दन लगाना, नैवेद्य प्रस्तुत करना, ईश्वर को खिलाकर तभी कुछ खाना-- आदि विभिन्न आचार उसके मनोभावों से ही सम्बन्धित हैं।

निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार करने वाले भक्तों के मनोभाव सगुण रूप भक्तों से कुछ भिन्न हो जाते हैं। वे ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार करते हैं, किन्तु साकार रूप में नहीं, वरन् निराकार रूप में। नवधा भक्ति के सभी

१- श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं, वन्दनं दास्यं सख्यं आत्मनिवेदनम् ॥

रूप उन्हें ग्राह्य नहीं हैं-- वे केवल श्रवण, कीर्तन, स्मरण और आत्म-निवेदन को ही स्वीकार करते हैं, जिसका सम्बन्ध एकमात्र मानसिक पक्ष से है।

तात्पर्य यह कि इष्टदेव के प्रति उनकी जो भावनाएं हैं, जो मनोभाव हैं-- उनके अनुकूल ही वे आचार करते हैं। इस सन्दर्भ में सन्त तुकाराम के विषय में कही गई एक किम्वदन्ती उल्लेखनीय है:--

भगवद् कीर्तन में आत्म-विभोर संत तुकाराम का, सम्मुख रखी गई भोजन की थाली में से कुत्ते द्वारा सूखी रोटी लेकर भागने पर, घी लेकर उसके पीछे दौड़ना इस बात का सूचक है कि सब जीवों में ईश्वर व्याप्त है। इस मनोभाव के परिणामस्वरूप ही वे कुत्ते के पीछे घी लेकर दौड़ पड़े। अत: मनोभाव के अनुकूल ही उनका आचार भी हुआ।

उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि मनोभाव और आचार अन्योन्याश्रित हैं। जिसका जैसा मनोभाव होगा, उसी के अनुकूल ही उसका आचार भी होगा।

-0-